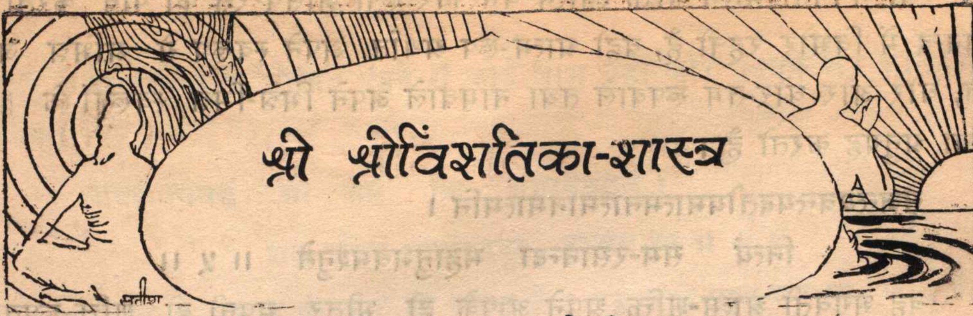


सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र महामहिम आचार्य श्रीमदभूत वाग्भव जी

ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय-भावो यदायत्तः स्फुरेदयम् ।

तामात्म-शक्ति वन्देऽहं विज्ञानां महतीं हृदि ॥ १ ॥

लोक-व्यवहार में व्याप्त ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भाव जिस (आत्म-शक्ति) के आश्रय तथा अधिकार से प्रकाशित हो सकता है, उस विज्ञान-स्वरूपिणी पारमेश्वरी अपरिमिता आत्म-शक्ति को मैं दय में नमस्कार करता हूँ ।

स्वतन्त्रं निरपेक्षं यदमृतं ब्रह्म वाग्भवम् ।

परिपूर्णं शक्ति-घनं स्व-प्रकाशं तदस्म्यहम् ॥ २ ॥

जो परम स्वतन्त्र है अर्थात् जो किसी के अधीन नहीं है और जिसकी समस्त लीला अपनी ही शक्ति का विलास है; जो किसी की अपेक्षा नहीं करता, अतः पूर्ण निर-पेक्ष है और किसी आत्मातिरिक्त पदार्थ का ग्रहण न करके अपनी स्वभाव-भूत शक्ति से ही विश्व का विस्तार करता है; जो अमृत अर्थात् अमर अनन्त अथवा शाश्वत है; जो अपरिमित और विमर्श-सार है अर्थात् जिसके स्वरूप-विमर्श से समस्त वाङ्मय और विश्व का विस्तार हुआ है; जो सर्वथा और सर्वतः परिपूर्ण है; जो अनन्त शक्ति-मय तथा स्व-प्रकाश अर्थात् अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होनेवाला है, वही अमृत-वाग्भव-स्वरूप मैं हूँ ।

स्वयं-सिद्धा भगवती ब्रह्म-शक्तिरहं महः ।

इच्छत्यवैति कुरुते निग्रहाऽनुग्रहात्मिका ॥ ३ ॥

वह स्वयं-सिद्ध ऐश्वर्यवती (भगवती) अहं-ज्योतिः-स्वरूप (अहं महः) तथा वाङ्मय-स्वरूपिणी निग्रह-अनुग्रह-मयी होकर इच्छा, ज्ञान और क्रिया को अभिव्यक्ति करती है ।

शान्तैर्घोरैर्घोरतमैः स्वं रूपैर्नामभिश्च या ।

निगृह्णात्यनुगृह्णाति पिबन्ती स्व-रसासवम् ॥ ४ ॥

जो भगवती आत्म-शक्ति स्वात्म-चमत्कार-रूपी आसव-रस का पान करती हुई उसके आनन्द में विभोर रहती है, वही आत्म-रूप अर्थात् अपने स्वरूप से अभिन्न जीवों पर शान्त, घोर और घोर-तम रूपवाले तथा नामवाले अपने भिन्न-भिन्न स्वरूपों के द्वारा निग्रह तथा अनुग्रह करती है।

सृजन्त्यवन्त्यदतीयमात्मनात्मानमात्मनि ।
नित्यं सम-रसानन्दा महानुभवमश्नुते ॥ ५ ॥

वह भगवती आत्म-शक्ति अपने आपके ही भीतर अपनी ही शक्ति-रूपता के द्वारा अपने आपकी ही सृष्टि तथा अपने आपका ही पालन और संहार करती हुई सदा अपनी सम-रसता के आनन्द में निमग्न रहती है और अपने स्वरूप के महान् अनुभव में विभोर रहती है। तात्पर्य यह कि भगवती की यह सृष्टि किसी बाह्य उपादान को लेकर नहीं होती। भगवती के आत्म-स्वरूप के अतिरिक्त अन्य कोई उपादान नहीं है। वे ही सृष्टि का निमित्त-कारण भी हैं। उन्हीं में सृष्टि का आश्रय भी है। वेदान्त के ब्रह्म के समान वे सृष्टि का अभिन्न निमित्तोपादान-कारण हैं। यही स्थिति और संहार के विषय में भी है। सृजन, पालन और संहार करती हुई भी भगवती सदा सम-रसानन्द-रूप महानुभव में निमग्न रहती हैं।

कल्पितं पुण्य-पापादि नैव स्पृशति जात्वपि ।
निर्लेपं सर्वगमपि करकादि वियद्यथा ॥ ६ ॥

पुण्य, पाप आदि कल्पित हैं। वे भगवती आत्म-शक्ति के स्वरूप का उसी प्रकार स्पर्श नहीं करते, जिस प्रकार ओले आदि आकाश का स्पर्श नहीं करते। आकाश सबमें व्याप्त होते हुये भी निर्लेप है। इसी प्रकार विश्व-रूपों में तथा जीवों में व्याप्त होते हुये भी भगवती का स्वरूप जीव-कृत पुण्य, पाप आदि से अछूता रहता है।

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तानि केवले नित्य आत्मनि ।
स्व-कला-कल्पितानीति विलसन्त्यपि सन्ति नो ॥ ७ ॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक तीन अवस्थाएँ उस अद्वैत और सनातन आत्मा में उसी की शक्ति (कला) से कल्पित होती हैं। अतः प्रतीत होती हुई भी वे वास्तविक नहीं हैं अर्थात् वे काल्पनिक हैं। उनको पारमार्थिक सत्ता नहीं है।

विद्यमाने जगति को लाभो नष्टे च का क्षतिः ।
वन्ध्या-सुते जीवति नो लाभो हानिश्च नो मृते ॥ ८ ॥

परमार्थ-दृष्टि से जगत् असत् है। तब विवेकी पुरुष को उसके होने से कोई लाभ नहीं और उसके नष्ट हो जाने से कोई हानि नहीं। यह असत् जगत् वन्ध्या-पुत्र के

समान है। वन्ध्या-पुत्र के जोवित रहने से कोई लाभ नहीं और उसके मर जाने से कोई हानि नहीं।

अवद्यमनवद्यं वा कर्म किं साधयेदसत्।

शश-शृङ्गं धनुर्यद्वददृढं दृढमेव वा॥ ९॥

जगत् के समान ही कर्म भी असत् है। वह चाहे पुण्य-रूप हो, चाहे पाप-रूप। असत् होने के कारण वह शुभ और अशुभ फल उत्पन्न नहीं करता। यह कर्म शश-शृङ्ग के धनुष के समान असत् है। शश-शृङ्ग का धनुष चाहे दृढ़ हो, चाहे अदृढ़, उससे कोई लक्ष्य-वेध नहीं किया जा सकता। इसो प्रकार असत्-रूप कर्म निष्फल है।

स्फुरन्तु मा वा स्फुरन्तु विश्वान्यात्मनि किं ततः।

आनन्द-घनमद्वैतं चकास्त्येव महन्महः॥ १०॥

आत्म-शक्ति से जो विश्व-लोक स्फुरित होते हैं, वे चाहे स्फुरित हों अथवा न हों, उससे उसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता। आनन्द-घन अद्वैत और अपरिमित परब्रह्म-रूप तेज तो सदा प्रकाशित होता ही रहता है। यही आत्म-शक्ति का वास्तविक स्वरूप है। विश्व-लोकों का स्फुरण तो उसका लीला-विलास मात्र है।

कुर्वञ्जानँस्तथैवेच्छन् यदात्मानमपह्नुते।

सोऽपह्नवोऽप्यलङ्कारः स्व-रसे माद्यतः कवेः॥ ११॥

जब परमेश्वर एक महान् कवि बनकर इच्छा, ज्ञान, क्रिया इन तीनों शक्तियों को उल्लास में लाता हुआ अपने आपको तिरोधान-कृत्य द्वारा छिपा देता है, तो उसका यह अपह्नव (तिरोधान) भी अलङ्कार ही बन जाता है क्योंकि जिस प्रकार कवि अपने काव्य के रस में मस्त होकर जब वस्तु का अपह्नव करता है, तो वही अपह्नुति नामक अलङ्कार बन जाता है। इसी प्रकार अपने चैतन्य के आनन्द में मस्त रहनेवाले परमेश्वर का यह स्वरूप-तिरोधान भी एक अलङ्कार ही बन जाता है।

स्व-प्रकाशं विमृश्यायं स्व-विमर्शं प्रकाश्य च।

विश्वानि कवयँस्तेषु रमते हि रसात्मना॥ १२॥

अपनो प्रकाश-रूपता का विमर्श करके और अपनी विमर्श-रूपता को प्रकाशित करके परमेश्वर समस्त भाव-समूह को कल्पना करता हुआ कवि बनकर उन समस्त भाव-समूहों के भीतर अपनी रस-मयता अर्थात् अपनो स्वात्म-चमत्कार-रूपी आनन्द-मयता से रमण करता है अर्थात् निग्रहानुग्रह-लीला का विलास करता रहता है।

सभ्यो नटो विभावादि-भावा रङ्गः स्वयं भवन् ।
स्व-चरित्रानुकारेण स्वमेव भजते रसम् ॥ १३ ॥

यह परमात्मा-रूपी कवि स्वयं ही नाटक का प्रेक्षक, नट, विभाव, अनुभाव आदि भाव और रङ्गभूमि के रूप में प्रकट होता हुआ अपने ही चरित्र का अनुकरण करता है और इस बिश्व-नाटक की रचना में आत्म-चमत्कार के रस का आस्वादन करता रहता है।

रेखा विन्दुं लिपी रेखां पदानि लिपिमन्तरा ।
वाक्यं पदानि ग्रन्थोऽपि वाक्यानि नहि विद्यते ॥ १४ ॥

विन्दु के बिना रेखा नहीं बन सकती; रेखा के बिना लिपि-रूप, वर्ण की कोई सत्ता नहीं; वर्णों के बिना पद का कोई अस्तित्व नहीं, पदों के बिना वाक्य सत्ता-हीन हो जाता है और वाक्य बिना ग्रन्थ का होना सम्भव नहीं। अतः विन्दु, रेखा, वर्ण, पद, वाक्य और ग्रन्थ की परम्परा द्वारा यह प्रमाणित होता है कि अखिल वाङ्मय परमात्मा के प्रकाश-रूप विन्दु का ही विस्तार है ।

अचिन्त्यया विसर्गाख्य-निज-शक्त्या स्वरूपया ।
विन्दुरेव शिवो भाति समस्तं वाङ्मयं सदा ॥ १५ ॥

शिव-रूप विन्दु ही अचिन्त्य और स्वात्म-स्वरूप अपनी विसर्ग-शक्ति के द्वारा समस्त वाङ्मय के रूप में प्रकट होता है। अर्थात् आत्म-प्रकाश-रूप विन्दु ही शिव है। वह शिव-रूप विन्दु ही अपनी 'विसर्ग' नामक शक्ति के द्वारा अखिल विश्व और वाङ्मय के रूप में विभासित होता है। शिव की यह शक्ति अचिन्त्य है। वह हमारे विचार से अतीत है, किन्तु वह शिव का स्वरूप ही है। शिव और शक्ति एक दूसरे से अभिन्न हैं।

वाच्य-वाचक-सम्बन्धाल्लक्ष्य-लक्षक-योगतः ।
व्यंग्य-व्यञ्जक-भावाच्च महार्थः प्रस्फुरेच्छिवः ॥ १६ ॥

विश्व-काव्य में अभिधा के द्वारा वाच्य-वाचक-सम्बन्ध से, लक्षणा के द्वारा लक्ष्य-लक्षक-योग से तथा व्यञ्जना के द्वारा व्यंग्य-व्यञ्जक-भाव से महार्थ-रूप में परमेश्वर प्रकाशित हो सकता है। अर्थात् विश्व-काव्य में परमेश्वर ही वाङ्मय-रूप से प्रकाशित हो सकता है। विमर्श-रूप परमेश्वर के विन्दु-भाव का विस्तार ही वर्ण-मय वाङ्मय है। उस वाङ्मय का अर्थ-तत्व भी शिव ही है। वह त्रिविध शक्तियों के द्वारा प्रकाशित हो सकता है।

वाच्य-लक्ष्य-व्यंग्य-भाव-विमर्श-परवान् भवन् ।
सच्चिदानन्द-स्वरूपः शिव एव प्रकाशते ॥ १७ ॥

वाच्य-भाव, लक्ष्य-भाव और व्यंग्य-भाव के विमर्श द्वारा विमृश्यमान होने से, उस प्रकार के विमर्श के अधीन होता हुआ भी वह सच्चिदानन्द-रूप शिव ही सदा प्रकाशित होता है। अर्थात् इन भावों के द्वारा विमृश्यमान होने से उसकी स्वतन्त्रता और आनन्दमयता खण्डित नहीं होती। वह सदा अपने स्वतन्त्र और आनन्दमय रूप में स्थित रहता है तथा उसी अच्युत-रूप में सदा प्रकाशित होता है।

स्फुरन् क्रमेणाक्रमेण विक्रमेण च सन्ततम्।
स्वस्मिन्नेवोरु-क्रमोऽयं क्रमते रमतेऽपि च ॥ १८ ॥

क्रम से, अक्रम से और विक्रम से निरन्तर प्रकाशित होता हुआ वह अपरिमित शक्तिमान् परमेश्वर अपने स्वरूप के भीतर ही अपना विक्रम दिखाता रहता है और अपनी क्रीड़ा का आनन्द लेता रहता है।

स्व-रसाममृतां विन्दु-विसर्गाढ्यां परः शिवः।
लालयंल्ललते नित्यं ललितामात्मनः कलाम् ॥ १९ ॥

परम शिव आत्मानन्द-रूपिणी तथा अमृत-रूपिणी, विन्दु और विसर्ग की महिमा से अति समृद्ध बनी हुई अपनी परम रमणीय शक्ति 'ललिता' नामक कला का लालन करता हुआ सदा अपने लालित्य में निमग्न रहता है। शिव की यह कला उनके आनन्द-मय स्वरूप से अभिन्न है, इसलिए वह 'स्व-रसा' है किन्तु वह 'अमृता'—अविनश्वर भी है। काल से अतीत होने के कारण वह शाश्वत है। वह 'ललिता' अर्थात् सुन्दरी भी है।

विमृश्यैवमशेषेण स्वानन्द-रस-सम्भृतः।
निःसङ्गो निर्ममः शान्तो मुनिर्यादृच्छिको भवेत् ॥ २० ॥

इस प्रकार से कहे हुये इस समस्त शास्त्र का मनन करके अपने स्वातम-आनन्द के रस में परिपूर्ण होकर तथा सङ्ग-रहित, ममता-रहित और शान्त बनकर मुनि विषय-त्याग और विषय-स्वीकरण में तटस्थता का भाव धारण करे, यही परम उपदेश है।

वैराग्य-वन्मनुज-सेव्यमिदं सदैव, हृद्य-प्रबोध-चतुरं सुमनः-शरण्यम्।
नातः परं किमपि शास्त्रमशेष-शोक-पाथोधि-शोष-करणेन शिवानलः स्यात् ॥ २१ ॥

इस शास्त्र का अभ्यास करने के अधिकारी वैराग्यवान् मानव हैं। यह शास्त्र हृद्यता पूर्वक शिष्य को समझाने में बड़ा उपयोगी है। सुन्दर मनवाले मनुष्यों को यह शरण देने योग्य (उपयोगी) है। देवता भी इसकी शरण ले सकते हैं। समस्त दुःख-रूप समुद्र को सुखा देने से यह शास्त्र शिव-मय अग्नि है और इस कार्य में इस शास्त्र से बढ़कर और कोई शास्त्र नहीं है।

विक्रमतो जननरमितवर्षेऽष्टम्यां सिते कवौ नभसि ।
श्रीविंशतिकां निरमात् श्रीमदमृत-वाग्भवाचार्यः ॥ २२ ॥

दो सहस्र आठ विक्रमी संवत् में श्रावरण मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी तिथि के दिन शुक्रवार को श्रीमान् अमृत वाग्भव आचार्य ने श्री विंशतिका-शास्त्र का निर्माण किया ।

अत्रि-गोत्र-समुद्भूत-मिश्र-गोविन्द-शर्मणः ।
बोधार्थं निर्मितं शास्त्रमेतज्जानन्तु पण्डिताः ॥ २३ ॥

अत्रि गोत्रवाले मिश्र गोविन्द शर्मा के प्रबोध के लिये यह शास्त्र बनाया गया है, ऐसा पण्डितजन जानें

(लिखितं श्रीकुलभूषणेन प्रयागे १४-३-७८) ।

[लगभग २० वर्ष पूर्व स० २०१६ में यह शास्त्र पं० श्री गोविन्द मिश्र, चौबुर्जा, भरतपुर (राजस्थान) द्वारा पुस्तक-रूप में प्रकाशित किया गया था । इस शास्त्र के प्रणेता सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र महा-महिम आचार्य श्रीमदमृत वाग्भव एक सिद्ध कुलाचार्य हैं, जिन्होंने आत्म-विलास, सप्त-पदी-हृदय, संक्रान्ति-पञ्चदशी, महानुभव-शक्ति-स्तव, श्रीमदमृत-सूक्ति-पञ्चाशिका, श्री स्वाध्याय महिम स्तोत्र, परशुराम स्तोत्र और राष्ट्रालोक नाम की अनेक उद्बोधक रचनाएँ लोक-हिताय लिखी हैं । प्रायः ये सभी प्रकाशित भी हुई किन्तु खेद है कि वर्तमान में अप्राप्य हैं । यहाँ उद्धृत 'श्री श्री विंशतिका शास्त्र' के प्रथम संस्करण का प्राक्कथन डा० सम्पूर्णानन्द (तत्कालीन मुख्य मन्त्री उत्तर प्रदेश) ने लिखा था और प्रस्तावना लिखी थी डा० फतेहसिंह, प्रिंसिपल गवर्नमेण्ट कालेज, ब्यावर ने । भूमिका-लेखक थे जयपुर के पण्डित-प्रवर श्री हरिशास्त्री दाधीच । शास्त्र के २० सूत्रात्मक श्लोकों की दो विस्तृत संस्कृत टीकाएँ भी प्रथम संस्करण में प्रकाशित हुई थीं, जिनके लेखक थे क्रमशः श्री बलजिन्नाथ पण्डित शास्त्री, एम० ए० काश्मीर और श्रीरघुनाथचन्द्र वासिष्ठ शास्त्री, एम० ए० । साथ ही डा० रामानन्द तिवारी, शास्त्री, एम० ए० कृत भाषा-टीका भी प्रकाशित की गई थी । खेद है कि यह उपयोगी शास्त्र-पुस्तक चिर काल से अप्राप्य है । इसकी उपयोगिता को देखकर संक्षिप्त भाषा-टीका सहित मूल शास्त्र को यहाँ प्रकाशित किया गया है । आशा है कि इससे प्रेरणा लेकर पूज्य आचार्य जी के समर्थ भक्त-गण उक्त शास्त्र-पुस्तक के द्वितीय संस्करण के प्रकाशनार्थ कृपया प्रयत्नशील होंगे ।—सं०]